

सम्पादकीय

दिनेश सिंह

गीत-नवगीत की चर्चा में 'नये-पुराने' का यह छठा अंक आप तक पहुँचाकर बहुत प्रसन्न हूँ कि अपनी इस बीमारी के दौरान भी प्रस्तुत अंक का काम जैसे-तैसे निपटा ले गया। चिकित्सकों ने मुझमें भी उसी रोग के लक्षण ढूँढ निकाले जिससे आज के साहित्यिक चिन्तक, विद्वान और कविता के नामी समीक्षक प्रायः गीत-नवगीत को त्रस्त पाते हैं—यानी 'हृदय-रोग'। दोनों ओर इस रोग का सघन परीक्षण जारी है। परिणाम भविष्य के गर्भ में है। एक कविता पत्रिका सिर्फ गीत-विषय को लेकर छः अंको तक पहुँची तो इस श्रृंखला से इस बात का संतोष होना ही चाहिए कि यहां तक आते-आते 'फीवर्स' या 'वर्सलेस' कविता तथा गीत के बीच बातचीत की एक शुरुआती स्थिति बन सकी है जिससे और कुछ हो न हो पर दोनों कविता-विधाओं के नकारात्मक और सकारात्मक पक्षों पर अध्ययताओं की नजर पहुँची है तथा दोनों छोरों से कुछ अधिक सार्थक व संगत दिशाओं की ओर ध्यान जाने की उम्मीदें भी जगने लगीं हैं। इसका यह अर्थ तो कदापि नहीं निकाला जाना चाहिए कि यह सब गीत को 'फीवर्स' की शरण में ले जाने का प्रयास है या समकालीन कविता के नाम से प्रचलित सशक्त कविता विधा की अवहेलना की कुचेष्टा है। इस संवाद में किसी को ऊपर या नीचे करने कराने की मशा भी नहीं है सो, इस काम को इसी अंदाज में लेना चाहिए कि यह एक प्रयास ही है, यह साबित करने का कि आज का गीत भी अपने खास अन्दाज और तरीके की कविता ही है—उससे आगे या पीछे की कोई चीज नहीं अपनी सीमाओं में यह भी कविता का स्वरूप ही है जो जीवन की संवेदनात्मक लय को अभिव्यक्ति में उस तरह ढालता है, जिस तरह वह कर सकता है और जो जीवनानुभूतियों को उस तरह से भी व्यक्त करने के लिए जरूरी है। गीत के 'कार्डियल पेन' की वजह से ही इस अनियतकालिक काव्य संचयन द्वारा उसके सर्वांग परीक्षण की नौबत आई है जैसे यह संपादक इस दौरान तमाम परीक्षणों से गुजर रहा है। 'आप सीढ़ी नहीं चढ़ सकते। बड़ा बोझ नहीं उठा सकते। बहुत ज्यादा बोल भी नहीं सकते, न बहुत गरिष्ठ हजम ही कर सकते हैं, आदि-आदि' यही सब तो गीत को भी कहा जा रहा था। पर अब भरोसा है कि गीत को कुछ नहीं हुआ है और न होगा। वह अपनी स्वाभाविक विकासशील प्रक्रिया के तहत नये आयामों की तलाश में है। विडम्बना है कि उसका यह संघर्ष ही उसके रोग का लक्षण माना जा रहा है।

इस बार की सम्पादकीय में कुछ अधिक कहने का मन नहीं बना पा रहा हूँ फिर भी भावप्रवणता और शाश्वतता की बात जो गीत की ओर से आती है उसकी ओर यहां-वहां से उठे हुए कुछ सवालियों पर ध्यान जरूर आता है जिस पर संक्षेप में कुछ कह देने को जी करता है। भावप्रवणता की बात कमोवेश 'नये-पुराने' के हर गीत-अंक की भूमिका में आई है क्योंकि गीत प्रथमतया भावाभिव्यक्ति की रचना है, पर आज इस भावाभिव्यक्ति का स्वरूप क्या हो, यह विचार का एक मुद्दा है। यह मानकर चलना कि तार्किक होती जाती आज की दुनिया में 'भावप्रवणता' के सहारे सृजनात्मक स्तर पर कुछ भी उल्लेखनीय हासिल कर लेना बहुत मुमकिन नहीं रह गया है या निर्णयात्मक उपलब्धि के लिए तर्कों को मनोभावना के साथ प्रस्तुत नहीं किया जा सकता—एक दीगर बात है। यह कहीं न कहीं आधुनिकता से अतिरंजित होकर सिर्फ तकनीकी हो जाने की सिफारिश है। आज के लेखन में जिस गद्यात्मकता को श्रेयष्कर सिद्ध किया जा रहा है उसके चलते भी भावात्मक अभिव्यक्ति को ही कविता का स्वरूप मिल पाता है। इसी भावात्मकता से ही गद्य और पद्य के बीच के विभेदक आयाम को पहली नजर में पहचाना जा सकता है। यदि यह गद्यात्मक भावात्मकता शब्द-लय में एक नियमित प्रवाह के साथ गीत में उतरती है तो सहज व अधिक प्रेषणीय मानकर स्वीकारने में कोई दिक्कत नहीं है और तब कविता का एक रूढ़ मिजाज तय करना बहुत संगत नहीं है। मनोभावों के सहारे सत्य को (चाहे वह समाज का हो या निज का) उद्घाटित करने या दर्शाने का सरल, सम्प्रेषणीय व सर्वस्वीकार्य तरीका गीत में मिल सकता है बशर्ते कि समय की जटिलता के सापेक्ष अंतर्वस्तु को संवेदनात्मक रवैये में अच्छी तरह से पचा लिया गया हो, उसकी सभी पतों को उधेड़कर देख लिया गया हो फिर उसके बाद उसकी व्यंजना का हुलास संजोया गया हो, नई बुनावट की सलाइयां घुमाई गई हों, ठीक वैसे ही जैसे यहां-वहां देखते बतियाते भी अभ्यस्त हाथों से स्वेटर की बुनावट उतरती चली जाती है। यह जो आवाज है कि अब हम यहां हैं जहां से हमारी आदिम सम्वेदनाएं हमें नहीं लौटाई जा सकतीं तो यह भी आज की तकनीक के आतंक से ग्रस्त होने का तनाव ही है। क्या इस आवाज में यह गूँज शामिल नहीं लगती कि अब हमसे आदिमयत की बात नहीं हो सकती? यदि ऐसा ही वास्तव में है तो फिर यह कविताई संवेदना का तमाशा क्यों है?

गीत से संदर्भित शाश्वतता के मुद्दे पर इतना ही कहने का मन है कि यह उस शाश्वतता की बात नहीं है जिससे मार्क्स की लाठी के सहारे खड़े हुए पदेन प्रगतिशील या अतिप्रगतिशील चिद्धते हैं और जो सिर्फ पदार्थ में ही जीवन का संश्लेष तलाशते हैं। बल्कि गीत की शाश्वतता जीवन की नैतिक अवधारणा के उस सहारे की बात है जो आज अपने हर हमसफर से किसी भी तरह से आगे निकल जाने की अंधी होड़ को मर्यादित और नियंत्रित करती है—थोड़ा संयत करती है तथा बराबरी और सहअस्तित्व के लिए थोड़ा ठहरकर सोचने का मौका देती है। सभी मानवीय मूल्यों को धता बताकर बेलगाम आगे बढ़ गए मन को समानता और समरसता के लिए तैयार करने की मानसिकता बनाने की जिम्मेदारी कविता जगत में आज गीतों पर ज्यादा है जो भौतिकता

के अंधड़ में हमें वहां टिकाए रख सकें, जहां हम अपनी समवेदनाओं को उनसे जोड़ सकें जो पीछे छूटे जा रहे हों और तकनीकी छद्म के सहारे आगे निकल जाने वालों के प्रति कुन्ठित और खौरियाए हुए हों। ऐसे में कविता क्षेत्र में गीत अधिक कारगर ढंग से बराबरी की स्थिति को स्वीकार करने का भाव हममें निर्विकार रूप से भर सकेगा ऐसी उम्मीद की जा सकती है क्योंकि गीत प्रखर रागात्मक संवेदना का सहभागी है। पदार्थ और जीवन के बीच का द्वन्द आज व्यक्ति के भीतर का शीतयुद्ध है जो सदियों से संजोयी सांस्कृतिक अस्मिता की संरक्षा के लिए अन्तर्मन की अंगनाई को रणक्षेत्र बनाकर हो रहा है। यह 'ग्लोबलाइजेशन' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा का द्वन्द है और यही कविता में गीत का भी। इस द्वन्द में अन्तश्चेतना का संघर्ष आज के तमाम गीतकारों की विषयवस्तु में देखा जा सकता है।

परम्परा से अतिशय मोह की जो तोहमत गीत पर लगाई जाती है, वह उस रूप में नहीं है। दरअसल आधुनिकता की सच्चाई को जांचने परखने में भी परम्परा गीत में संदर्भित हो सकती है किसी रूढ़ि की तरह नहीं बल्कि मानकीय आयाम की तरह रचना की द्वन्दात्मक प्रक्रिया के तहत। फिर भी यह मान लेने के तमाम कारण हो सकते हैं कि कभी-कभी गीतकार यहां-वहां अपने भावोद्रेक में आकर निहायत रूमानी और स्वप्नजीवी हो जाता है। अपने अंतरंग जीवन के निजी संवादों में जब वह अपने को 'मस्त आदमी' की कोटि में रखता है तो निश्चय ही उसके भीतर की सोच से एक गैर जिम्मेदाराना व सामंती नजरिए की गंध आती है। जब वह आज के जीवन के सफर को किसी शौक से जोड़ कर देखता है तो आज की संघर्षशील जिन्दगी के प्रति उसकी लापरवाही का बोध होता है। आधुनिक जीवन की कड़ी धूप में पांव जलने पर यदि वह 'घर' की गुहार लगाता है तो वह वर्तमान सांघर्षिक चेतना से कटा हुआ निरा अबोध व भयभीत बच्चे सा हो जाता है। हो सकता है कि गीत कविता के लिए ये संदर्भ कभी बड़े कारगर लगते रहे हों, जब हमारे सामाजिक जीवन को सिर्फ रागबोध की संचालित करता रहा हो। पर आज स्थिति बड़ी तेजी से बदलकर कुछ और हो गई है। कभी अपने भीतर सिर्फ करुणा और सौहार्द की चिरंतन स्रोतस्विनी प्रवाहित करने-कराने की कोशिश गीत में की गई थी। बाघ और बकरी को एक घाट पर पानी पिलाने की कामना लेकर यह ललक भी पाली गई थी कि वहीं मगरमच्छ और घड़ियाल सभी का रहना हो सके। तो यह भारतीय चिन्तन दर्शन के मानवीय आयाम पर टिका आदर्श का एक मॉडल ही था जिसे 'भारत महान' की विराट अस्मिता से जोड़कर देखा गया था जहां शोषित के हक में शोषक के हृदय परिवर्तन की सतत उम्मीद पाली गई थी पर आज के यांत्रिक जीवन में ये कल्पनाएं कामनाएं कुछ कमजोर सी दिखने लगी हैं। पर यहीं एक सवाल उठ खड़ा होता है कि बिना कोई आदर्श गढ़े यथार्थ की वस्तुनिष्ठता को कैसे आंका जाए। जिस तरह यथार्थ अपनी समकालीनता के साथ पैतरेबदल रहा है क्या वैसे ही उसी अनुरूप आदर्श का भी गढ़न होते रहना चाहिए? क्या यह किसी पंथ या संघ से जुड़कर ही हो सकता है? एक निरा भारतीय बनकर नहीं जो किसी भी नई मशीन का 'ऑपरेटर' तो हो सकता है पर खुद मशीन नहीं। फिर भी आज का संदर्भ लेकर इस प्रसंग में ये पंक्तियाँ उद्घृत की जा सकती हैं कि -'जो कल तक सच्चा लगता था, वह अब भी सच्चा लगे, कहाँ की बात हुई। जो कल तक बच्चा लगता था, वह अब भी बच्चा लगे कहाँ की बात हुई'।

ऊपर गीतकार की जिस मस्ती की बात आई है उसका आलम यह है कि वह कहीं-कहीं आधुनिक जीवन के अक्स उभारने की कोशिश में किसी यथार्थ तक पहुंचने के पहले ही स्वच्छंद मानसिकता की वायवीय कल्पना में भटक जाता है और इतिहास बोध के सामयिक दायित्व से कन्नी काट जाता है तथा अंतर्वस्तु को इस तरह सरलीकृत कर लेता है कि सब कुछ निरा काल्पनिक और स्वप्निल लगता है- 'रेत में एड़ी रगड़ते थक गया, मन ने कहा, मैं नदी बनकर बहूँ-बहने लगा'। मन कुछ सार्थक कहे और अपने आप ही मन मुताबिक हो जाए, वास्तव में यह सब क्या इतना आसान है? 'मन ने कहा पंछी बनकर उड़ूँ उड़ने लगा-उड़ने लगा'। यानी मन के कहने भर की देर है कि समस्याएं तुरन्त-फुरन्त हल हो गईं। न किसी सांघर्षिक चेतना की जरूरत और न किसी तैयारी का मामला है जिसमें हम सब मर-मरकर जी रहे हैं। फिर भी विचलन के ये संकेत जीवन-राग के दिन-ब-दिन संदर्भहीन होते जाने की सच्चाई को तो समने लाते ही हैं-इसमें दो राय नहीं हो सकती। परम्परा और आधुनिकता के तौल माप के बटखरों की हुनरबाजी भी इससे साफ होती है और बटखरों के वजन भी समझ में आते हैं। गर ईमानदारी से जांचा-परखा जाए तो आधुनिक जीवन की संगति से विचलन और बिखराव के ऐसे नमूने साहित्य की हर विधा की रचनाओं में तलाशे जा सकते हैं जहां एक ही रचना कार अपनी रचनाधर्मिता में कुशल निशानेबाज भी साबित हुआ हो और मनमौजी भी। ऐसा प्रायः हर क्षेत्र में देखा जा सकता है। सचिन के बैट से टकराई हुई हर गेंद न तो 'छक्का' ही अर्जित कर सकती है और न चूकने पर उसे जरूरी रूप से 'आउट' ही करार दे सकती है यानी हर रचना पूर्ण और साथर्क ही हो जाए या एक ही महत्तम वजन में तुल जाए, कोई जरूरी नहीं है। यह सत्य प्रेमचन्द के साथ भी घटित हुआ है, निराला के साथ भी और उसी तरह नागार्जुन या मंगलेश डबराल के साथ भी तथा शिवबहादुर सिंह भदौरिया से लेकर दिनेश सिंह या यशमालवीय के साथ भी। हर रचना दरअसल एक कोशिश ही है जिसमें कुछ न कुछ छूट ही जाता है अगली कोशिश के लिए। फिर भी यह नहीं भूलना चाहिए कि गीत रागानुराग की वैयक्तिक रचना होने के साथ ही अपने प्रकाशन के साथ सामाजिक भी हो जाती है। यों तो प्रत्येक रचना को रचनाकार के निजी संस्कार प्रभावित करते ही हैं। रचनाकार की सांस्कृतिक सोच जिसमें उसके मन की वैज्ञानिकता क्रियाशीलता भी शामिल होती है, उसका कद तय करती है। इस कद में उसके अनुभव, स्मृति और अभिज्ञान के संवेदन ही उसकी कुब्बत और काठी को उभारते हैं। तभी तो कोई रचना प्रथमतया व्यक्तिगत ही मानी जाती है क्योंकि अपनी जन्मप्रक्रिया में पहले-पहल सर्जक की संवेदनाएं ही अंतर्वस्तु के उद्घाटन के लिए बेचैन होती हैं, भले ही उद्घाटन की इस बेचैनी में समीष्ट की चिन्ताएं बाह्य कारकों

की तरह उसे उद्देलित कर रही हों। यानी उद्घाटन के बाद रचना दोहरे स्तर पर सामाजिक हो जाती है—एक तो समाज के समक्ष स्वयं के उद्घाटित हो जाने के कारण, दूसरे सामाजिक अंतर्वस्तु के उद्घाटन के कारण। इसीलिए रचना स्वयं रचनाकार की होकर भी सारे सामाजिक समूह की हो जाती है और यों उस पर एक बड़ी सामाजिक जिम्मेदारी स्वतः ही आयद हो जाती है। गीत रचना के साथ भी यह जिम्मेदारी जुड़ी हुई है। इसीलिए तमाम विचलनों के बावजूद भी आज के गीतकार समय को उसकी पूरी सामाजिकता में परखने का माददा रखते हैं और विज्ञान के करिश्मे का बाजार से होकर गुजरने का अंदाज भी लक्षित करते रहते हैं तथा ऐसे में चतुर्दिक ध्वंस के छितराव में तप्त जीवन के प्रवाह को मापते भी हैं और अपने गीत धर्म से उसे उजागर करते हुए जीवन पर पड़ने वाले उसके विपरीत प्रभाव को श्लथ भी करते हैं।

फिर भी भावाभिव्यक्ति की रचना होने के कारण गीत का मुकाबला 'फीवर्स' से नहीं किया जा सकता। गीत की अंतर्वस्तु भावप्रवणता के माध्यम से जिस रूपाकार में ढलती है उसे उसके विशिष्ट व अतिरिक्त नजरिए से देखना होगा। उसकी समीक्षा के लिए भी इस अतिरिक्त नजरिए का उपयोग करना होगा और उसे इन निजी मानकों में स्वीकार करना होगा लेकिन यह भिन्नता रूपाकार और अभिव्यक्ति के तरीके की ही है संवेदन के स्वरूप की है विषय वस्तु में तो दोनों आज के सामाजिक जीवन के यथार्थ से ही जुड़े हैं। अब यहां मुझे एक बड़े कवि रघुवीर सहाय की 'रामदास' कविता का हवाला देने की इजाजत लेनी होगी। यह सही है कि 'रामदास' एक बड़ी कविता है—छन्दबद्ध। वह कथात्मक की गद्यात्मक लय के सहारे आज की सामाजिक संवेदनाहीनता के सत्य से टकराती हैं। फिर भी वह बड़ा गीत नहीं है क्योंकि वहां अन्तर्वस्तु या वस्तुत्व भावप्रवणता के साथ उद्घाटित नहीं हो सका है। कथात्मक तरीके से एक सामाजिक सच्चाई का सामने आ जाना हतप्रभ तो करता है पर इस सामूहिक संवेदनहीनता के खुलासे के बाद भी हमारे भीतर न तो हत्यारे के प्रति घृणाभाव ही पैदा कर पाता है और न हमें उस तरह संवेदनशील ही बना पाता है जिससे हमारे मन में इस कृत्य के विरोध में कोई भी कोई सार्थकता पैदा हो सके। हाँ हतप्रभता के इस नाटक में हमें भी वह कहीं न कहीं एक तमाशबीन की तरह खड़ा कर देता है। ऐसे में विनम्रता पूर्वक एक सवाल किया जा सकता है कि आखिर यह 'रामदास' कविता उद्घाटित सामाजिक संवेदनहीनता के खिलाफ हमें कौन सा सहारा देती है या पूर्व से अनुमानित एक दुर्घटना के घट जाने पर तमाशबीनों की तरह एकत्रित जनसमुदाय को कहां से हिलाती झकझोरती है। मुझे यह भी कहने दिया जाए कि गीत अपने समाज से ऐसी संवेदनात्मक रिश्तेदारी नहीं निभाता। अगर यह कविता घटना के प्रति हमें करुण नहीं करती तो कोई राहत भी नहीं पहुंचती। क्या एक बड़ी साहित्यिक रचना का उद्देश्य इतना भर ही है। गीत तो सत्य का उद्घाटन भी करता है और सुसंगति के लिए हमें भावप्रवण भी बनाता है जिससे उद्घाटित सत्य के नकारात्मक पक्ष को श्लथ करने के लिए विकल्प के तलाश की सामूहिक बेचैनी भी पैदा हो सके। आज के नवगीतकारों द्वारा ऐसे तमाम गीत रचे गए हैं जो इस सामूहिक संवेदनहीनता के सत्य को उजागर भी करते हैं। उनकी वजहों का संकेत भी देते हैं और पूरी अभिव्यक्ति से विद्रूप सत्य के खिलाफ संवेदनशील भी बनाते हैं। यहां ऐसे उद्धरण देना तो अभी बहुत जरूरी नहीं समझता हूँ पर कविता के अध्ययताओं से आज के गीत की समग्र रचनात्मकता से गुजरने का निवेदन जरूर कर सकता हूँ। जबकि ऐसे में भी एक दिक्कत हो सकती है कि इस स्तर के गीत एक जगह संकलित रूप में शायद न मिल पाएँ पर फुटकर रूप से इधर-उधर पत्र-पत्रिकाओं और कुछ गिने चुने संकलनों में पाठ के लिए जरूर उपलब्ध हो सकते हैं क्योंकि गीत विविध मानवीय आयामों के विस्तार की सीमाओं को पीछे धकेलने में लगकर चुटीली विषय वस्तु के लिए कहन की अधिक आर्द्रभूमि की तलाश भी करते हैं जिनमें अंकुरित अभिव्यक्तियां आज की प्रगतिशीलता को भी व्यंजित करती हैं तो केवल उसके यथार्थ पक्ष को ही नहीं बल्कि जरूरत पड़ने पर उस आदर्श को भी जो इस यथार्थ का परीक्षण करने के लिए जरूरी हो सकता है। पर आज के गीतों की इन सच्चाइयों तक पहुंचने के लिए उनके बीच से गुजरने की इच्छाशक्ति तो संजोनी ही पड़ेगी और उसी के सहारे ऐसे उत्कृष्ट गीतों को तलाशना भी पड़ेगा। गीतों में रूप और कला का जो मन्तव्य है उसके आग्रह का दबाव बनाए रखने की जो चिन्ता है वह उतनी ही है जितनी अभिव्यक्तिक आर्द्रता और आयाम की गहराई को उभारे रखने के लिए अपरिहार्य है, बाकी तो सिर्फ उनकी कलाकारी है जो कविसम्मेलनीय मंचों से गाने-बजाने में रुचि रखते हैं और जिन्हें इस तरह के आधुनिक पैसा बटोरु बाजार की अधिक चिन्ता रहती है और जो अपनी इस कालाकारी से एक सार्थक जनता माध्यम की घनात्मक संभावनाओं को क्षीण करते हैं। वे जब गीत के किसी गंभीर विमर्श में शामिल होते हैं तो कुछ और कहते हैं जिससे उनके समकालीन साहित्य-बोध की प्रमाणिकता बनी रहे किन्तु वही जब गीत की रचना प्रक्रिया में उतरते हैं तो अपने स्वर की शास्त्रीय कंठधर्मिता के बूते वाहवाही और पारिश्रमिक के नाम पर सौदा करते हैं जबकि उन्हें मनचाही वाहवाही भी क्षणिक स्मृति के आधार पर भी नहीं मिल पाती क्योंकि वहां प्रभावोत्पादकता की सारी उपलब्धियां विद्रूप हास्य और सतही व्यंग्य के तुक्कड़ मार ले जाते हैं। यही दो-मुँही मानसिकता गीत को समर्थ कविता नहीं बनने देती। ऐसे गीतकार सामयिक गीत के साथ रहने का ढकोसला तो जरूर करते हैं पर रहते हैं मनोरंजन प्रेमी समुदाय की सामंती व उपभोक्ता वादी मनोवृत्ति के साथ और बैठते हैं भाँड़ों के बीच अखाड़ेबाजी के अंदाज में जमने-जमाने की चिन्ताएं लेकर। ऐसे रचनाकारों पर ये पंक्तियां कितना फबती हैं—'फन वाले होते नहीं/सिर्फ मुँहवाले हैं दो मुँहे साँप/हम गए भांप खींचते लकीरें राहों में/आड़ी तिरछी/धनु की-ऋण की/लिजलिजी देह के मालिक/चिन्ता संकल्पों की/नाप्रण की। जब तक जीना है/जीते हैं/या मर जाते है आप-आप/हम गए भांप'। गीत के साथ नत्थी ये विडम्बनाएं आधुनिक जीवन के मनोविज्ञान और उसके सामाजिक विज्ञान के साथ परंपरा के नाम पर रूढ़ियों का घालमेल भी करती हैं और अपने इतिहास बोध से कटकर उसके लिए सिर्फ हाय-हाय भर करती हैं। इस प्रकार वर्तमान जीवन की सांघर्षिक चेतना से हमें बिलगाकर उसी अतीत की ओर ले जाती हैं जहाँ सिर्फ अतिशय राग का मोहपाश है, उससे जकड़ा हुआ ठहराव है और सतत्

विकासमान चेतना की कोई अवधारणा नहीं है। ऐसे में वर्तमान से चिढ़ी हुई यह मानसिकता मौजूदा समय को सही गीत तरीके से पहचानने भी नहीं देती।

एक बात और है कि तमाम गीतकारों में समय और सत्य को ठीक-ठीक समझे बगैर ही अपने लिखे को छपने-छपाने की बेकली है। उनमें अपनी स्थापना के प्रति इतनी हड़बड़ी है कि वे किसी नये सार्थक व रचनात्मक प्रयोजन के प्रयत्न के साथ ही तमाम तरह की आशंकाओं से घिर उठते हैं। उदाहरण के तौर पर हम गीत अंक एक में प्रकाशित डा. रवीन्द्रभ्रमर की उस टिप्पणी का संदर्भ ले सकते हैं जिसमें उन्होंने 'अतिगीत' की बात चलाई थी। अपनी टिप्पणी में उन्होंने कहा था कि बहुत फैली हुई या विश्रंखलित लय के गीतों को 'अतिगीत' कहना चाहिए जिसमें उन्होंने स्वीकार भी किया था कि ऐसे तमाम 'अतिगीत' उन्होंने भी लिखे हैं। इस संवाद में 'नये-पुराने' की ओर से निवेदन किया गया था कि सृजन या निर्माण की अति नहीं होती। विध्वंस की तो हो सकती है अतः साहित्यिक गीत सृजन में 'अतिगीत' का नामकरण उचित नहीं लगता। यानी 'नये-पुराने' की ओर से ऐसे साहित्यिक सृजन में अति की वर्जना का आग्रह किया गया था और कुछ आगे बढ़कर यह भी कह दिया गया था कि ऐसी विश्रंखलित, टूटी या फैली हुई लय के गीतों को कोई नया नामकरण करने की मजबूरी यदि कभी आ ही जाये तो उन्हें अधिक से अधिक 'मुक्त गीत' कहकर काम चलाया जा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में यह भी निवेदित किया गया था कि चूंकि अभी 'नवगीत' को ही पूरी प्रतिष्ठा (अकादमिक स्तर पर) नहीं मिल पाई है सो नये किसी नाम की बड़ी जरूरत महसूस नहीं होती। बस इतनी सी बात ही खलबली मचाने के लिए पर्याप्त हो गई और मध्यप्रदेश के एक कस्बे से प्रकाशित होने वाली गीत-केन्दित पत्रिका के माध्यम से गीतकारों में यह आशंका भरने की कोशिश की गई कि यह तो 'मुक्तगीत' की वकालत है जो नवगीत के आगे की संज्ञा का जनक बन जाने की लालसा में की गई है। भय इस कदर उभरकर सामने आ गया कि टिप्पणी में परोक्ष रूप से 'मुक्तगीत' के समाजशास्त्र की मांग भी कर ली गई। इसी संदर्भ को लेकर इसी पत्रिका में कानपुर के एक गीतकार की टिप्पणी छपकर आई जिसे ज्यों का त्यों यहां दे रहा हूँ—'अतिगीत के संदर्भ में दिनेश सिंह की टिप्पणी उल्लेखनीय है। अपनी सम्पादकीय में वे कहते हैं—गीत एक निरंतर संवेदनशील व स्वभावजन्य आकुलता की चेतन प्रक्रिया है पर उसकी विषय वस्तु जनजीवन से जुड़ी होने के कारण आज यथार्थ की खुरदुरी व ठोस जमीन पर पसरी हुई है सो उसकी लय के विस्तार को किसी अति के दायरे में नहीं लेना चाहिए। विध्वंस की तो अति हो सकती है पर निर्माण या सृजन अति नहीं होती इसलिए जो गीत है वह अतिवादी नहीं हो सकता'। अब आगे टिप्पणीकार कहते हैं कि—'यह नवगीत के प्रति निराशावादी वक्तव्य है। उनकी समीक्षा की चिन्ता मियां की दौड़ मस्जिद तक ही है। ढेर सारे नाम गिनाये लेकिन सब नाकारा'। इस वक्तव्य से चौंककर मैंने अपनी उल्लिखित सम्पादकीय देखी तो पाया कि उसमें तो मैंने किसी गीतकार के नाम ही नहीं गिनाए क्योंकि 'नये-पुराने' को नाम की नहीं सिर्फ काम की ही चिन्ता रहती है। एक गंवई-गांव के रचनात्मक प्रयास को कोई महानगरीय भय या कुन्ठा अपने हक में कैसे अतिरंजित कर बेवजह आहत करती है, उसके ये नमूने हैं। मजा तो तब आया जब इसी समर्थ गीतकार ने 'नये-पुराने' के अगले अंक की प्रतिक्रिया में प्रसन्न होकर लिखा कि इस अंक के गीतों से 'मुक्तगीत' की खनक आती है। खैर! यह कोई बड़ा आश्चर्यजनक मुद्दा नहीं है पर यह ताज्जुब जरूर हुआ कि गीत-संघर्ष से जुड़े किसी सकारात्मक प्रयास को इस तरह से लेने और लिखने वालों को यह भय नहीं लगा कि ऐसे आधारहीन वक्तव्य उनकी किसी निजी कमजोरी या कुन्ठा का खुलासा भी नहीं माने जा सकते हैं। लाठी लेकर गीत को मनमाने ढंग से हांकने वालों को इसकी चिन्ता नहीं है कि वे अपनी इस प्रवृत्ति से वर्तमान गीत को किसी समय संगति की ओर न ले जाकर अनजाने में पूरी तरह चर गए ऊसर उजाड़ मरुभूमि की ओर ले जाना चाहते हैं जहां सामयिक व सांघर्षिक चेतना के जीवनांकुरों के फूटने की सम्भावनाएं क्षीण हो चुकी हों। जब कविता के जाने-माने समीक्षक कविता विधा की इस आनुषंगिक व भावप्रवण चेतनधारा की उपेक्षा कर उसे अपने समीक्षा कर्म से त्याज्य बना देंगे तो उसके प्रति ऐसी गैरजिम्मेदारियां इसी रूप में सामने आयेंगी ही।

इधर तो आप देखने को पायेंगे कि गीत को समसामयिक प्रभावी अर्थविन्यास की ओर ले जाने तथा उसे अधिक सार्थक घनात्मकता उपलब्ध कराने के शुभैषी चिन्तक तुक और टेक की अनिवार्यता की चिन्ता से भी उसे मुक्त कराना चाहते हैं जिससे उसके पाठ की संभावनाएं इतनी मूर्त हो सकें कि उसे प्रेषणीयता के लिए स्वर या संगीत के माध्यम का सहारा लेना जरूरी न लगे। लेकिन जब गीत के साथ शब्द और ध्वनि की लयात्मकता की कसरत होनी ही है तो तुक और टेक की छूट लेना गीतकारों के गले शायद ही उतर सके। फिर भी गीत में बहुस्तरीय अभिव्यक्ति की गहराई, अर्थ की बहुआयामी स्तरों को साथ पाने तथा कहन में समायी भावाभिव्यक्ति को अधिकाधिक यथार्थ परक व संगत बनाने तथा रचनाक्षेत्र को अधिक व्यापकता उपलब्ध कराने के उद्देश्य से यदि यह छूट ले ही ली गई तो मुझे भी भय है कि ऐसे गीत को वास्तव में कहीं 'मुक्तगीत' ही कहकर न पुकारा जाने लगे। फिर भी 'नये-पुराने' की ओर से इस नाम की फिलहाल कोई वकालत नहीं की जाएगी, यह मैं अपने पाठकों की भरोसा दिलाना चाहता हूँ।

गंभीर अस्वस्थता के कारण इस बार सम्पादकीय में अपनी ओर से कोई विशेष टिप्पणी नहीं कर पा रहा हूँ और ही दी गई सामग्री के विवेचन में ही चाहकर भी अपनी ओर से कोई राम जाहिर कर पा रहा हूँ फिर भी इस अंक में लगा हुआ 'टिप्पणी' तथा 'संवाद' खंड काफी-कुछ सोचने की जमीन तैयार करता है। कविता के बरक्स गीत की अगली बातचीत के लिए अच्छी पृष्ठभूमि इस खण्ड से तैयार हो सकती है बशर्ते कि गीतकार सारी बातचीत को बिना किसी पूर्वग्रह के गंभीरता से ले सकें और प्रस्तुत विचारों पर चिन्तन-मनन कर अपनी निष्पक्ष व निराग्रही राय बना सकें। गीत का यह अंक संदर्भित विषय पर एक खुले मंच

नये पुराने गीत अंक-6 (2000)

की तरह प्रस्तुत है। अपनी प्रतिक्रियाओं से अवगत करा सकेंगे तो आगे के काम को सही दिशा मिल सकेगी।

सम्पर्क—
ग्राम-गौरा रूपई
पो.-लालूमऊ
जनपद-रायबरेली (उ.प्र.)

(नये पुराने गीत अंक-6, सम्पादक-दिनेश सिंह, प्रकाशक-राजेन्द्र राजन, द्वारा-नेहरू युवा केन्द्र, सीतापुर, उ. प्र.,
मुद्रक-माहेश्वरी एण्ड संस, नाका हिंडोला, लखनऊ, उ.प्र., वर्ष-2000, मूल्य-रु 40/-, प्रष्ठ-204)

<http://geetpahal.webs.com>